INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL

# प्रेमचन्द का धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतन

प्रा. डॉ. मिरगणे अनुराधा ज.
हिन्दी विभाग अध्यक्षा , आदर्श महाविद्यालय उमरगा.

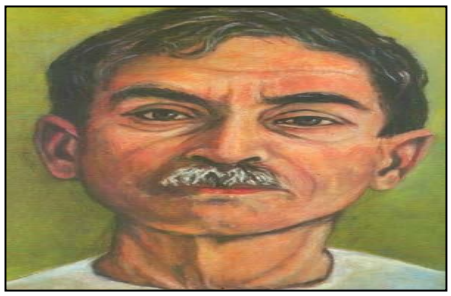

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक अतिविस्तृत संसार को रचा है। सम्भवतः इतना विस्तृत संसार हिंदी में किसी ने नहीं रचा है। यह एक अतिशयोक्तिपर कथन नही है। संख्या की दृष्टि से विपुल साहित्य रचनेवाले हिंदी में कम नही हैं। लेकिन प्रेमचन्द की तरह इतिहासबध्द गतिशील रचना-भूमि अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी रचना भूमि वह लोक है, जिससे प्रेमचन्द पूरी तरह से जुडे थे। ऐसी एक गहन लोक –दृष्टि के कारण प्रेमचन्द के पास दूरगामी दृष्टि भी सुरक्षित थी कि वे अपनी नजदीकियों को ही नहीं बल्कि दूरियों को भी देख सकते थे। यह सिर्फ देखना भर नहीं अपितु अनुभव करना है। सामायिक विषयों पर लिखे गए प्रेमचन्द के विचारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है, कि उनकी जीवन्तता देशव्यापी संकटों से जूझने से उत्पन्न प्रतिक्रिया है।

भारतीय यथार्थ का संकट दरअसल उनका केन्द्रीय विषय था। बाहय जीवन की कुरुपताओं से परे तमाम प्रकार की कमजोरियों से परे गरीबी से उत्पन्न दुर्बलताओं से परे, ऊँचे तबके के लोगों के दबाव में रहते-रहते दयनीय होने या होते जानेवाली स्थितियों से परे और जाति व धर्म की संकीर्णता आहें से परे मनुष्य की जो सच्ची स्थिति है, उसकी जो विजेता है उसी को प्रेमचन्द अपने लोक में संस्थित कर रहे थे । प्रेमचन्द आद्यन्त एक सही मनुष्य है। इसलिए मानवीयता को कोई न कोई पक्ष उनकी रचनाओं में प्रेक्षित मिलता है। उस उन्होंने आरोपित ढंग से नही लिया है। उनकी रग-रग में मनुष्य की प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति थी।

प्रेमचन्द भारतीय थे, और अपने युग के भारतीय पुनर्जागरण के संवाहक थे। वे पश्चिमी संस्कृति और विदेशी विचार से भारत को बचाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने सन १९२६ में ‘‘प्रेम व्दादशी’’ की भूमिका में लिखा था, कि वे अपने कथा-साहित्य में ‘‘भारतीय आत्मा’’ को सुरक्षित रखना चाहते है। प्रेमचन्द का यह विचार उनके साहित्य का केन्द्रीय विचार है, और यही उनके विचारों का मूलधार है। प्रेमचन्द यह समझते थे कि भारत में वही जीवन-दृष्टि से मेल खाती हो।

प्रेमचन्द निश्चय ही इतिहास, धर्म, परम्परा आदि के उन तत्वों के विरोधी थे, जिन्होंने मनुष्य- मुनष्य में भेदभाव, असमानता के साथ शोषण और दमन का चक्र चलाया हुआ है। हिंदू धर्म के आडम्बर, अस्पृष्यता, भेदभाव, कर्महीनता आदि के वे घोर आलोचक थे, परन्तु इससे व हिंदू जीवन- दृष्टि और उसके सनातन मानवीय पक्ष के भी आलोकच नहीं हो जाते है।

विवेकानन्द और गांधी ने भी हिंदू धर्म की बुराईयों की कटु आलोचना की लेकिन बीसवीं शताब्दी की नई चेतना के अनुकूल जो विचार-दृष्टि एवं मानवीय मूल्य हिंदू-धर्म की सनातन दृष्टि में भी, वे उन्होंने स्वीकार किए और उनके आधार पर ही उन्होंने भारत की मुक्ति और विकास का दर्शन प्रस्तुत किया।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में धर्म के आडम्बरों का खुलकर विरोध किया, और सच्चे मानव-धर्म के आडम्बरों का खुलकर विरोध किया, और सच्चे मानव-धर्म की प्रतिष्ठा का समर्थन किया। २६ अक्टूबर, १९३२ के ‘‘जागरण’’ के सम्पादकीय अंक में ‘‘हमारा कर्तव्य’’ नामक शीर्षक में प्रेमचन्द लिखते है

पर धर्म वस्तुतः बुध्दिग्राहय नही, ऱ्हदयग्राही है। हमसे अलग कोई चीज नहीं है। वह एक ऐसी चीज है, कि जो अपने ऱ्हदय में से ही विकसित होती है। वह सदा हमारे अंतर में ही है।

प्रेमचन्द हिंदू धर्म में व्याप्त आडम्बरों के विरुध्द इसी लेख में आगे लिखते है-

प्रत्येक युवक को महात्मा जी का यह वचन याद रखना चाहिए, जो एक बार उन्होंने कहा था ''अस्पृश्यता या छूआछूत अगर हिंदू-धर्म में हो, तो मुझे कहना पडेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है,

धर्म नही। पर मेरा दृढ विश्वास है, कि हिंदू-धर्म में यह सब कुछ नहीं है। जब तक प्रत्येक हिंदू अपने चमार, भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिंदू न समझेंगे, तब तक मैं उन्हें हिंदू ही नही समझूंगा। मनुष्य तिरस्कार और दया इन दो चीजों के साथ नहीं रह सकता।[२]

इसी तरह ''कर्मभूमि'' का अमरकांत कहता है- ''क्यों खान-पान में, रस्म-रिवाज में धर्म अपनी टाँगे अडाता है? मैं चोरी करुं, खून करुँ, धोखा दूँ, धर्म मुझे अलग नहीं कर सकता। अछूत के हाथ से पानी पी लूँ, धर्म छूमन्तर हो गया। अच्छा धर्म है। हम धर्म के बाहर किसी से आत्मा का संबंध भी नहीं कर सकते? आत्मा को भी धर्म ने बाँध रखा है, प्रेम को भी जकड रखा है। यह धर्म नही, धर्म का कलंक है।''

धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों के कारण जनता में व्याप्त आर्थिक और बौध्दिक दुर्बलताओं पर २६ मार्च १९३४ जागरण के संपादकीय अंक में ''अंधविश्वास'' शीर्षक से प्रेमचन्द लिखते हैं-

और इस आर्थिक दरिद्रता से बढकर इस अंध-विश्वास का फल जनता की बौध्दिक दुर्बलता हैं, जो उसकी सामाहिक उपयोगिता में बाधक होती है। उसे नदी में गोता मार लेना, या शिवलिंग पर जल चढा देना, किसी भाई से सहानुभूति रखने या अपने व्यवहारों में सच्चई का पालन करने की अपेक्षा ज्यादा फलदायक मालूम होता है। उसने असली धर्म को छोडकर जिसका मूलतत्व है, समाज की उपयोगिता धर्म के ढोंग को धर्म मान लिया है। जब तक वह धर्म का यह असली रुप न ग्रहण करेगा, उसके उध्दार की आशा नहीं। शिक्षित समाज के सामने जितनी समस्याएं है, उनमें शायद सबसे कठिन समस्या यही है। यहाँ उसे अंध-विश्वास की पोषक प्रबल शक्तियों का सामना करना पडेगा, जो अनंत काल से जनता की विचार शक्ती पर कब्जा जमाए हुए है।[३]

ईश्वर की कल्पना, एक दण्डदाता के रुप में एक भयंकर राजा के रुप में प्रेमचन्द कभी नहीं कर सकते। ''कलम का सिपाही'' में अमृतराय लिखते है- लेकिन जो लोग ऐसा नहीं समझते और भूकम्प के पीछे इश्वर की लीला देखते है, और देश भर में यज्ञ और हवन की धूम मचाये है, उनकी खिल्ली उडाते हुए मुंशीजी ने दो तीन हफते बाद फिर लिखा-

देवता और ईश्वर तो एक प्रकार से नातेदार है। कोई ईश्वर का भाई है, कोई साला, कोई बहनोई। नातेदार की रक्षा तो सभी करते है। भूकम्प तो आया था, उन लोगों को दण्ड देने के लिए, जो महात्मा गाँधी के मत से, अछूतों पर अन्याय करते हैं। पांगापंस्थियों के मत से, अछूतों के लिए मंदिर खुलवाते है, अहलाकारों के मत से, जो रिश्वत नही देते, मुल्लाओं के मत से, जो दाढी नहीं रखते। मगर ऐसा मालूम होता है कि देवताओं में भी दो दल हो गये है, क्योंकि जहाँ नेपाल के देव मंदिरों में एक को भी आँच नहीं आयी, वहाँ बिहार में कितने ही देवायल लोप हो गये और मस्जिदों का निशान मिट गया..... हमे तो यह देखकर दुःख होतो है कि अच्छे-खासे समझदार लोग रहा है, समाज में भी, धर्म में भी। चोरी मत करो, नही राजा दण्ड देगा। पाप मत करो नही, इश्वर दण्ड देगा। इस प्रकार इश्वर की कल्पना भी एक बहुत बडे, तेजस्वी और भयंकर राजा की थी। यह कभी नहीं कहा गया, कि चोरी मत करो, इससे तुम्हारे समाज को कष्ट होगा।[४]

प्रेमचन्द समय के साथ होने वाले परिवर्तानों के प्रति पूर्ण आशावान थे, और भविष्य में सच्चे, मानव धर्म को प्रतिष्ठित होता हुआ देखते थे। १९ फरवरी, १९३४ के जागरण के संपादकीय अंक में जातिभेद मिटाने की एक योजना शीर्षक में वे लिखते हैं-

हवा का रुख दस-बीस साल में वह सारी जातिया, जिन्हें शूद्र कहा जाता है, ब्राम्हण नहीं तो, क्षत्रिय अवश्य बन चुकी होंगी।

प्रेमचन्द आगे लिखते हैं- हम कितने गर्व से अपने को शर्मा, वर्मा, तिवारी, चतुर्वेदी लिखते है, कि क्या पुछना? यह इसके सिवा क्या है, कि भेद-भाव हमारे रक्त में सन गया है, और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी है, वे भी अपनी सांप्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते, वरना इसकी जरुरत ही क्या है, हम अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी कहें। खासकर उस दशा में कि हमने वेद की सूरत भी नहीं देखी, और इसमें भी संदेह है कि हमारे पूर्वजों ने भी कभी वेदों के दर्शन किए थे।

इस प्रकार प्रेमचन्द जिस भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का संकल्प ले रहे थे, उससे पूर्व स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी दयानन्द, गांधी आदि अनेक भारतीय विचारक उसी भारतीय आत्मा, रमेशचन्द्र शाह के शब्दों में ''आत्म-बिम्ब'' को आविष्कृत करने का प्रयत्न कर रहे थे।[५]

प्रेमचन्द की इस भारतीय आत्मा में पुरातन भारत के सत्य , शिवं, सुंदर, के साथ धर्म के मानवीय मूल्य और आध्यात्मिक चेतना का योगदान है। उनके अप्रैल १९३६ के प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में दिए गए अध्यक्षीय व्याख्यान तक में य विचार प्रमुखता से मिलते है। हंस के अप्रैल १९३२ के छपे लेख जीवन में साहित्य का स्थान में उन्होंने लिखा कि जीवन और साहित्य का उददेश आनन्द है, और सच्चा आनन्द सुंदर और सतय से मिलता है। उनके अनुसार भारतीय साहित्य का आदर्श तयाग और उत्सर्ग में है, भोग और अधिकार में नही और इन आदर्शो की सृष्टि व्यास और बाल्मीकि ने की है। भारत राष्ट की ये सबसे मूल्यवान सम्पत्ति हे। हिंदू धर्म में सत्य, नीति, त्याग, सेवा, परोपकार, प्रेम, सहिष्णुता, बलिदान, परमार्थ आदि जो मानवीय मूल्य है, प्रेमचन्द के जीवन-भर

उनकी आत्मा के अंग बने रहे। उन्होंने श्रीकृष्ण और भावी जगत शीर्षक लेख लिखा, जो कल्याण के अगस्त, १९३१ के अंक में छपा था। इस लेख में उन्होंने धर्म के संबंध में लिखा था-

भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खडी की गई है। हमारे समाज और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलम्बित थी, लेकिन पाश्चात्य देशों में धर्म को जीवन से पृथक रखा गया, जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन-संग्राम ने प्रचंड रुप धारण कर रखा है, और यह इश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की भाँति फेलती जा रही है। जाजियों और राष्टों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर, अमीर और गरीब में भीषण युध्द हो रहा हे। इश्वरहीन उद्योग में शांति कहा। ऐसे समय में संसार के उध्दार का एकही उपाय है और वह है कर्मयोग। हिंसायम जनतंत्र और हिंसामय एकतन्त्र में विशेष अन्तर नहीं है। आधिभौतिकवाद में धर्महीन तत्वों से संसार का उध्दार न होगा। उसमें आध्यात्मिकता की स्फूर्ति डालनी होगी। ..... समाष्टिवाद और बोल्शेविज्म उसके (योरप) के वह नए अविष्कार है, जिनसे वह संसार में युगांतर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही नही सकता था, किन्तु अध्यात्मवादी भारत इससे संतुष्ट होनेवाला नही। वह अपने परलोक को ऐहिक स्वार्थ पर बलिदान नही कर सकता। वह अध्यात्मवाद से भटककर दूर जा पडा था, जिसके फलस्वरुप उसे एक हजार वर्ष तक गुलामी करनी पडी। अब की वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो संसार के सुख और शांति का एकमात्र साधन है। अब की इस जागृति से उँच-नीच, छोटे-बडे का भेद मिट जाएगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनाई देगा और भगवान कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रुप में संसार के उध्दारकर्ता होंगे।

प्रेमचन्द प्रगतिशील लेखक-संघ के अधिवेशन में दिए गए व्याख्यान में भी इसी भाव-भूमि एवं चिंतन-बिंदुओं की स्थापना करते है। वे सत्य, सुंदर एव शिव की प्रवृत्तियों कीचर्चा करते है, और लगभग बारह स्थानों पर आध्यात्मिक तृप्ति आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता, आध्यात्मिक आनन्द, आध्यात्मिक भोजन, आध्यात्मिक सामंजस्, आध्यात्मिक सुख, आध्यात्मिक बंधन, भक्ति, वैराग्य, आध्यात्म, आध्यात्मिक उच्चता, आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता, आदि की विभिन्न संदर्भो और प्रश्नों की व्याख्या में शब्दों का प्रयोग करके यह स्थापित कर देते हैं कि उनका साहित्य तथा दर्शन हिंदू धर्म मूल आत्मा पर स्थापित है।

## सन्दर्भ –

१. प्रेमचन्द के आयाम – ए. अरविंदाक्षन – प्रेमचन्द और समाजवाद – डॉ. कमलकिशोर गोयनका
२. प्रेमचन्द रचनावली खण्ड ८
३. कर्मभूमि – प्रेमचन्द
४. प्रेमचंन्द नचनावली खण्ड ९
५. कलम का सिपाही - अमृतराय